

	*   स वं पुसां परो धर्मो यतो भक्तिरथेष्वने ।	
धर्मः इवाद्विदितः पुसां विद्येष्वन कथम् यु यः । धर्मः		चोत्पादयेव यदि रत्नं धम पूर्व विभेदवल्य । धर्मः
	*   अहैतुक्यप्रतिहता यवाहमासुप्रसीदति ।	
सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । भक्ति धर्मोक्तज की अहैतुकी विद्यनगृह्य धर्म भंगलदायक ॥	सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर । किन्तु हृषि-कथा-प्रीति न हो अम धर्म सभी के बल बंचनकार ॥	
वर्ष १२ { गौगन्ध ४८१, मास—मधुसूखन २१, वार—संकरण सोमवार, ३१ वैशाख, सम्वत् २०२४, १५ मई, १९६७ } संख्या १२		

## श्रीग्रन्थविलास-स्तवः

( श्रीरघुनाथदास-गोस्वामि-पाद-प्रणीता )

( गतांकसे भागे )

पृष्ठेयं स्य मूदा स्वयं गिरिधरः स्वैरं निकुञ्जेश्वरीं  
 फुलं कुम्भतरैरमण्डयदलं फुलो निकुञ्जेश्वरः ।  
 ईषनेष-विघूरणेन कलितस्वाधीन उच्चेश्वर्या  
 श्रीमान् स प्रथयत्वहो मम हृषोः सौभ्य कदम्बेश्वरः ॥७३॥

निकुञ्जेश्वर गिरिधर श्रीकृष्ण स्वयं ( अपने कर-कमलोंसे ) अत्यन्त हर्ष एवं  
 प्रफुल्लित चित्तसे जिन ( श्रेष्ठ ) कदम्ब वृक्षके विकसित कुसुमोंके द्वारा प्रफुल्ल चित्ता  
 निकुञ्जेश्वरी श्रीराधिकाजीको भूषित करते हैं और इस प्रकार ( जिनके सुन्दर पुष्पोंसे  
 अलंकृत होकर ) श्रीराधिकाजी अपनी वङ्कुम नेत्र-भंगीद्वारा श्रीकृष्णको वशीभूत रखती  
 हैं, वे श्रीमान् कदम्बेश्वर मेरे नेत्रोंका सुख विस्तार करें ॥७३॥

नोचैः प्रौढभयात् स्वयं सुरपतिः पादो विघृत्येह यैः  
स्वर्गज्ञासलिलैदवकार सुरभिद्वाराभिषेकोत्सवम् ।  
गोविन्दस्य नवं गवामधिष्ठाता राज्ये स्फुटं कौतुका-  
तंयंत् प्रादुरभूत सदा स्फुरतु तद्गोविन्दकुण्डं हशोः ॥७४॥

इन्द्रने अत्यन्त भयभीत होकर दीनतापूर्वक श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंको पकड़ कर जिस स्थान पर मन्दाकिनीके जलसे सुरभिके द्वारा उनका गोविन्द नामकरण कराते हुए गोपालके सावंभोम राज्यपदपर अत्यन्त कौतुकके साथ जो नूतन अभिषेक कराया था, उसी अभिषेकके पवित्र जलसे प्रादुर्भूत श्रीगोविन्द कुण्ड मेरे नयन-गोचर हों ॥७४॥

ब्रजेन्द्रवर्योपित-भोगमुच्चै,-धृत्वा चृहृत्कायमधारिश्टकः ।  
वरेण राधां छलयन् विभुडते, यत्रान्नकूटं तदहं प्रपद्ये ॥७५॥

जिस स्थल पर ब्रजराज श्रीनन्द महाराजने ( गिरराज गोवद्धनको ) विराट अन्नकूटका भोग अपूर्ण किया था और जहाँ कृष्णने श्रीगिरिराज गोवद्धन जैसा विशाल रूप प्रकट कर—‘मैं पर्वतराज हूँ, वर ग्रहण करो’—इस वरसे श्रीमती राधिकाकी छलना कर उस विराट अन्नकूटको उदरस्थ कर लिया था, उस अन्नकूट नामक कृष्णलीला-स्थलीका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥७५॥

गिरीन्द्रवर्योपरि हारिरूपी, हरिः स्वयं यत्र विहारकारी ।  
सदा मुदा राजति राजभोगे-हरिस्थलं तत्तु भजेऽनुरागेः ॥७६॥

गिरिराज गोवद्धनके ऊपर जिस स्थान पर श्रीकृष्णने स्वयं मनोहर रूपसे विहार करते हुए अत्यन्त आनन्दित होकर राजभोगको खाया था, मैं उसी हरिस्थल नामक श्रीकृष्णकी विहार-स्थलीका अत्यन्त अनुरागमें भर कर भजन करता हूँ ॥७६॥

घट्कीडाकूतुकितमना नागरेन्द्रो नवीनो  
दानी भूत्वा मदननृपतेर्गव्यदानच्छ्लेन ।  
यत्र प्रातः सखिभिरभितो वेष्टितः संरोष  
श्रीगान्धार्वा निजगणवृत्तां नौमि तां कृष्णवेदोम् ॥७७॥

दानधाटी-कीड़ा कौतुककी निगूढ़ प्रभिलाषावाले नव नागरेन्द्र श्रीकृष्णने प्रातः

कालमें अपने सखाओंके साथ जिस स्थान पर महादानीके रूपमें मदन नृपतिको गव्य ( दूध, दही, घृत और मक्खन आदि ) दान करनेके मिस प्रिय सखियोंद्वारा परिवेष्टित श्रीमतीराधिकाको रोक रखा था, मैं उस कृष्णवेदीको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥७५॥

निभृतमजनि यस्माद्वाननिवृत्तरस्मि-न्नत इदमभिधानं प्रापयत्तस्मभायाम् ।

रसविमुग्न-निगृहे तत्र तज्ज्ञकवेद्ये सरसि भवतु वासो दाननिवृत्तनेन ॥७६॥

जिस अत्यन्त निजंन सरोवर पर यह निगृह दानलीला निवर्तित या सम्पन्न हुई थी और इसीलिये सखी समाजमें जिस सरोवरका नाम दान-निवर्तन सरोवर प्रसिद्ध हो गया तथा जो अरसिकोंके लिये परम निगृह और रसिकोंके लिये वेद्य हैं, उस दान-निवर्तन सरोवरमें मेरा सदैव वास हो ॥७६॥

सोरि-ब्रह्मकदम्बखण्ड-सुमतोहद्राप्सरोगोरिका-

उयोहस्नामोक्षण-माल्यहार-विवृषारोद्द्रुष्वजायाक्षया ।

यानि श्रेष्ठसरांसि भाग्नि परितो गोवद्धनाद्वेरम्-

नीडे चक्रकलीर्थ-देवतगिरि-श्रीरत्नपीठान्यपि ॥७६॥

श्रीगिरिराज गोवद्धनके चारों ओर विराजमान सीरिकुण्ड ( बलदेव कुण्ड ), ब्रह्मकुण्ड, कदम्ब-खण्डी, कुमुमसरोवर, रुद्रकुण्ड, अप्सराकुण्ड, गोरीकुण्ड, ज्योत्सना-मोचन कुण्ड, माल्यहार कुण्ड, विवृषारि कुण्ड तथा इन्द्रद्वजा कुण्ड आदि सरोवरों तथा चक्रतीर्थ, देवत गिरिके ऊपरमें स्थित श्रीरत्नपीठ आदि तीर्थ स्थलोंकी मैं स्तुति करता हूँ ॥७६॥

अहो दोलासेना-रसवरभरोहफुलमवदनी

मुहुः श्री गान्धर्वार्गिरिवरधरो तो प्रतिमधु ।

सखीवृन्दं यत्र प्रकटितमुदाद्दोलयति तत्

प्रसिद्धं गोविःदस्थलमिदमुदारं वत भजे ॥७७॥

अहो ! जिस स्थलपर भूला-रसमें निमग्न प्रफुल्ल मुखमण्डलवाले श्रीश्रीराधा-गोविन्दको सखियाँ प्रत्येक वसन्तकालमें परमानन्दित होकर बार-बार भुलाया करती हैं, उस प्रसिद्ध उदार गोविन्द-स्थलका मैं भजन करता हूँ ॥७७॥

प्रियात् प्रिय-प्राणावयस्यवर्गे, धूतापराधं किल कालियं तथ् ।

यत्राद्येत् पादतलेन नृत्यन्, हरिर्भजे तं किल कालियं हृदम् ॥८१॥

अपने प्राणाधिक प्रिय सखाओंके प्रति अपराध करनेवाले कालीय नागका श्रीकृष्ण ने नृत्य करते-करते अपने चरणकमलोंसे जिस स्थान पर दमन किया था, उस कालीय हृदका मैं भजन करता हूँ ॥८१॥

सूर्यद्वादशमि: परं सुररिपुः शीतात्तं उग्रातप-  
भंकिप्रेमभरेहुदारचरितः श्रीमान्मुदा सेवितः ।  
यत्र खी-पुरुषः कवरात् पशुकुलैरावेष्टितो राजते  
स्नेहैद्वादश सूर्य-नाम तदिदं तीर्थं सदा संश्रये ॥८२॥

ब्रजके खी-पुरुषों और रंभाती हुईं गोवोंसे परिवेष्टित उदार चरित श्रीकृष्ण लीला-कोतुकसे अत्यन्त शीतात्तं होनेपर जिस स्थानमें प्रेमाभक्तिसे युक्त द्वादश सूर्योंके उग्र ताप द्वारा परिसेवित होकर विराजमान हुए थे, उस द्वादश आदित्य-टीलाके नामसे प्रसिद्ध तीर्थका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥८२॥

अत्यन्तातपसेवनेन परितः संजातघर्मोत्करै-  
गोविन्दस्य शरीरतो निपतितंयतोर्धंसुच्चरभूत् ।  
तत्तत् कोमल-सान्द्रसुभृततर-श्रीमत्सदज्ज्ञोच्छ्रुत-  
दग्धंहर्हारि सुवारि सुद्धुति भजे प्रस्कन्दनं बन्दनेः ॥८३॥

अत्यधिक धूपका सेवनसे श्रीगोविन्दके श्रीग्रंगके पसीनेकी टपकती हुई घिन्कुओंसे जो अतीव उत्तम तीर्थं प्रकटित हैं तथा अत्यन्त कोमल और सुन्दर शोभाशाली श्रीकृष्ण के ग्रंगोंकी मधुर सुगन्धसे जिसका जल अति सुगन्धित और मनोहर शोभासम्पन्न हो रहा है, उस प्रस्कन्दन नामक कुण्डका मैं बन्दनापूर्वक आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥८३॥

कात्यायन्यतुलचनार्थममले कृष्ण-जले मज्जतः  
कन्यानां प्रकरस्य चीरनिकरं संरक्षितं तोरतः ।  
हृत्वारुह्य कदम्बमुज्ज्वल-परीहासेन तं लज्जयन्  
स्मेरन्तं प्रददो सुभज्जिमुरजितं चीरष्टृं श्रये ॥८४॥

[ कृष्ण-प्राप्तिको कामनासे ] श्रीकात्यायनी देवीका पूजन करनेके लिये यमुना-  
जलमें स्नान करती हुईं गोप-कन्याओंके तट पर रखे हुए बछोंका जिस स्थानसे अपहरण  
कर श्रीकृष्णने उन बछोंके साथ कदम्ब वृक्ष पर चढ़ कर उन्मुक्त परिहाससे उक्त गोप-  
कन्याओंको लज्जित किया था तथा पुनः मुस्कुराते हुए उनके वस्त्र उन्हें दे दिये थे,  
मैं उस चीरघाटका आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥८४॥

( क्रमशः )

## श्रीकृष्ण-सेवा

श्रीधामवासियोंकी चरणसेवा करनेकी योग्यता  
मुझमें नहीं है, परन्तु आप लोगोंकी इच्छा और  
श्रीगोरहरिकी कृपासे प्रेरित होकर गौरभक्तोंकी  
सेवाके लिए उपस्थित हैं। गौरभक्तोंकी कृपासे  
सभी आशाएँ, सभी आकाशाएँ और सभी प्रयोजन  
अनायास ही प्राप्त किये जा सकते हैं। उनके श्रीपाद-  
पद्मोंका स्मरण करनेसे हमें सफलता मिलेगी, इसमें  
कोई सन्देह नहीं है।

हम अपने ( जड़ीय ) गौरवसे गर्वित हैं। कभी-  
कभी किसी कार्यारम्भसे पाप-पुण्यका विचार करते  
हैं और कभी हम सोचते हैं कि बड़े बनकर दूसरों  
के ऊपर प्रभुत्व विस्तार करेंगे। ये सभी कार्य केवल  
प्रतिष्ठाके लिए ही हैं। गौरभक्तोंका कहना है—  
आब्रहुस्तम्ब तक जितनी आकाशाएँ हैं, वस्तुलाभ  
करनेकी जितनी भी चेष्टाएँ हैं, योगकी जो सभी  
बांध्नाएँ हैं, भोगके पश्चात् जो विराग उपस्थित  
होता है—ये सभी असत्, परिवर्त्तन शील  
या कालक्षोभ्य हैं। ऐसे प्रयाससे प्राप्त वस्तुके हस्ता-

न्तरित होने पर सब कुछ विफल मालूम होता है।  
जिस प्रकार कुत्तेकी दुमको सीधा करनेका प्रयास  
व्यर्थ है, उसी प्रकार भूभुंवः आदि चौदह भुवनोंके  
भोगोंकी परिणाति भी व्यर्थ ही है। कर्मफलबाध्य  
भोग्यवस्तु मात्र ही परिवर्त्तनशील है।

रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श ग्रहणोपयोगी इन्द्रियज  
जानसमूहके द्वारा परिचालित होकर हम कभी-कभी  
अहंग्रहोपासक हो पड़ते हैं। उस अवस्थामें हमारा  
आत्म-प्रयास सुप्रसार्य होता है। कभी-कभी हम  
कर्मफलकी आशासे आकाश-पृष्ठरूपी त्रिदशपुरीको  
बड़ा ही रमणीय समझते हैं। जब त्याग-चिन्ता  
प्रबला होती है, उस समय हम मनको ही “मैं”  
समझकर भ्रान्त होते हैं। मन ही भोक्तृरूपसे कार्य  
करता है। यही भोग-त्याग वृत्ति आत्मवृत्ति ध्वंस-  
कारिणी है।

( मुक्त ) आत्मा यह जानती है कि स्वर्यंरूप  
कृष्ण ही परतत्त्व वस्तु हैं। श्रीनारायण उनके  
विलास विग्रह हैं और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न

तथा अनिरुद्ध वैभव-प्रकाश हैं। परतत्त्व कृष्ण नारायणसे प्रकट नहीं हुए हैं। कृष्णकी नाम-रूप-गुण-लीला—सभी नित्य हैं। श्रीनारायणमें स्वयं-रूप कृष्णका समस्त ऐश्वर्य प्रकाशित है और श्रीकृष्णमें नारायणके ऐश्वर्यकी मधुरिमा प्रकाशित है। हम यह सब तत्त्व न जानकर आत्म-स्वरूप विस्मृत होकर वैष्णवोंकी चेष्टा तथा परतत्त्वके सम्बन्धमें गलत धारणा कर बैठते हैं। उस समय संसारकी मिश्रता-शत्रुता आदिमें व्यस्त होकर असत् में सत्का भ्रम कर बैठते हैं।

कृष्ण सम्पूर्ण चेतनमय वस्तु हैं। अचितपर वस्तु अचेतन है और भगवद्वस्तु सत् है। आनन्द होकर हम अपने आपको स्वयं ब्रह्म समझते हैं। उस समय भगवान् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित हैं—ऐसा कुतकं हृदयमें प्रवेश कर चेतन की दृतिको किलुम कर देता है। आत्मा (मुक्त) कल्पापि भोगके लिए व्यस्त नहीं होती। बद्ध मनयुक्त व्यक्ति यह सोचता है कि कृष्णपादपद्मोंमें उसके भोगकी वस्तु है। भगवानके पादपद्म चिन्मय हैं, हमारे भोगके उपकरण नहीं हैं। चेतनका व्याघात होनेसे चेतनकी अस्मितामें अचेतनको चेतन समझने का अम होता है।

कृष्ण ही आनन्द हैं। उनमें पूरणनिन्द है। वे पूरणनिन्दमय विश्रह हैं। इन्द्रियजज्ञानमें या जड़ानन्दमें पूरणता नहीं है। यहाँ सभी इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती। इन्द्रियजज्ञान द्वारा पराचालित होकर हम अहंग्रहोपासना या पातञ्जलिके कैवल्यलाभमें अखण्ड आनन्दका आशा करते हैं। किन्तु

नित्यानन्दके लिए प्रयास करना ही आत्माका धम है। मन द्वारा जब उस नित्यानन्दके लिए प्रयास किया जाता है, तो भोगमयी धारणाका उदय होता है। एकमात्र कृष्ण-दर्शनमें ही कृष्णसेवा नितान्त प्रयोजनीय है—ऐसी धारणा होती है।

जब तक हम नाना विचारोंमें आबद्ध रहकर भोग बांधा करते हैं, तब तक हम जड़ेन्द्रिय द्वारा प्रपञ्च भोग करनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु प्रपञ्च हमारा भोग्यवस्तु नहीं है। जिस समय निरवच्छब्द तेल धाराकी तरह चिदानन्दका निरन्तर उदय होगा, उस समय कृष्णपादपद्मोंमें हमारी अनन्य भक्तिका उदय होगा।

जहाँ संख्या गत 'एक', 'दो', 'तीन' आदिको उपलब्धि हो, वहाँ भेदवाद है। प्रपञ्चमें यह भेदवाद होने पर भी चिज्जगत्में वह पूर्ण समताको लाभ करता है। उस समय यह ज्ञान होता है कि कृष्ण ही नित्य चेतनमय वस्तु हैं।

हमारे नित्यत्व, सत्यत्व, चेतनता आदिका भगवानमें पर्यंतसान होने पर उनके प्रति भक्ति होती है। वर्तमान समयमें भक्ति शब्दका नाना प्रकारसे असत् व्यवहार होता है। जैसे—पितृ-भक्ति, राजभक्ति या पाठशालाकी गुरुभक्ति। भक्ति शब्दके अर्थमें सेवा ( "भज् धातुः सेवायाम" ) है। किस वस्तुके माध्यमसे यह भक्ति साधित होगी, इसका विचार न करनेसे असुविधामें पड़नेकी आशंका है।

श्रीचेतन्य चन्द्रामृतमें (४६ में) कहा गया है—

“कालः कलिवंलिन इन्द्रियवैरिवर्गः  
श्रीभक्तिमार्गं इह कण्टकोटिरुद्धः ।  
हा हा व यामि विकलः किमहं करोषि,  
चैतन्यचन्द्र यदि नाद्य कृपां करोषि ॥”

वर्तमान काल कलि है—विवादका युग है। इसलिए परमोज्जवल भक्तिमार्ग वाग्-वितण्डा, छल कुतकं आदि कोटि-कोटि कण्टक (विघ्न) द्वारा अवरुद्ध है। ऐसी अवस्थामें विना श्रीचैतन्य महाप्रभुकी कृपाके शुद्धभक्तिके विचारोंको जानना असंभव है। श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण है—भगवद्वस्तु हैं। उनको प्राकृत इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जाता। अतएव कठ (१२।२३) में कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो  
न मेष्यो न बहुना श्रृतेन ।  
यमेवैष वृगुने तेन लभ्य-  
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥”

भगवद्वस्तुके नित्य अधिष्ठानकी—आनन्दमय अधिष्ठानकी उपलब्धि न होनेसे उस वस्तुको पाया नहीं जाता। मनोधर्मजीवी नाना प्रकारसे भगवद्वस्तुको न जानकर अन्य वस्तुको पूज्य समझते हैं और इन्द्रियज-दशनके द्वारा भोक्तृ-भोग्य-भोगका विचार न जानकर प्रत्येक वस्तुको भोग्य समझते

हैं। मनके द्वारा भोग होता है। कृष्णकी सेवा हहुी माँससे नहीं होती, चेतनके द्वारा होती है परमाणुवादके द्वारा भगवानकी सेवा नहीं हो सकती।

सविशेष विचारसे परतत्व वस्तु नारायणसे स्वयंरूप वस्तु कृष्णमें लीला-वैचित्र्य है। सान्त प्रतिम स्वयंरूप कृष्णमें अनन्त नारायण है। कृष्णचन्द्र ही पूर्णतम परतत्व वस्तु हैं। उनके स्वयंरूपसे ही नारायणका परतत्व है और श्रीबलदेव कृष्णके ही वैभव प्रकाश हैं और आकर परमात्म वस्तु हैं। चेतनकी वृत्ति उन्मेषित होने पर हम यह समझ सकेंगे कि कृष्ण स्वयंरूप वस्तु हैं या आनन्दमय वस्तु हैं। वहाँ मर्यादा रूपी बाधा नहीं है। मर्यादाकी पूज्य-पूजक विचारसे सम्यक् सेवा नहीं होती। किन्तु कृष्ण सब प्रकारसे सेवककी नित्य सेव्य वस्तु है। कृष्ण नश्वर नहीं हैं। आत्माकी नित्य इन्द्रियोंद्वारा उनकी सेवा करो होगी। मन की कल्पना द्वारा कृष्णसेवा नहं होगी। सम्बन्ध या दिव्यज्ञानकी आवश्यकता है। ‘कृष्ण ही आराध्य है’—ऐसा विचार जिनका है, वे ही हमारे हैं। ‘कृष्ण ही हमारे एकमात्र आराध्य है’—ऐसा वैष्णवोंका विचार है। इसी विचारको आवश्यकता है। भोग बांछामयो जड़प्रतिष्ठा अवांछनीया है।

—जगद्गुरु अविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

# प्रश्नोत्तर

## वैष्णव-तत्त्व

१. शुद्धभक्तोंका क्या स्वभाव है ?

“सरलता, दृढ़ता और एकान्तता ही शुद्धभक्त का स्वभाव है। लोकापेक्षासे वे कदापि भक्ति-विरुद्ध बातोंमें सम्मति नहीं देते। शुद्ध भक्त सर्वदा ही निरपेक्ष हैं।”

—‘भक्तिके प्रति अपराध’ स. तो ८।१०

२—वैष्णव चरित्र कैसा है ? वैष्णव-पदवी पाने योग्य कौन है ?

“वैष्णव चरित्र निष्पाप है। उसमें गोपन करनेकी कोई वस्तु नहीं है। सरलता ही वैष्णवोंका जीवन है। अपने चरित्रको सर्वत्र प्रकाश पूर्वक शिक्षा देनी चाहिये। चरित्र शुद्ध न होनेसे कोई भी व्यक्ति वैष्णव पदवी पाने योग्य नहीं है।”

—‘साधुशिक्षा’ स. तो. ५।१०

३. चिन्मय-प्रकृति देहसे कृष्णभजनकारी महाजन क्या वैधाचारका परित्याग करते हैं ?

“आत्मामें कृष्ण-योषितभाव प्राप्त कर सारग्राही व्यक्ति कृष्णभजन करते हैं। फिर भी वे सर्वदा ही बाह्य देहमें शरीरके कर्मोंका धीरतासे निर्वहि करते हैं। आहार, विहार, व्यायाम, शिल्प-कार्य, वायु-सेवा, निद्रा, यानारोहण, शरीर-रक्षा, समाज-रक्षा, देश भ्रमण आदि समस्त कार्य ही उनके चरित्रमें यथायोग्य समयमें लक्षित होते हैं।”

—‘कृष्ण-संहिता, १०।१२

४. मनुष्य जोवनकी विभिन्न अवस्थाओंमें रहकर भी सारग्राही वैष्णव क्या हरिभजनसे च्युत होते हैं ?

“सारग्राही वैष्णव पुरुषोंमें धीरभावसे रहकर कार्य करते हैं कभी-कभी खो-जातिके आश्रय पुरुष-रूपसे योषितवर्गके निकट पूजनीय होते हैं। समाज में अवस्थित होकर कभी-कभी समाजिक कार्योंमें विशेष अभिज्ञता प्राप्त करते हैं। बालक-बालिकाओं को अर्थ विद्या शिक्षा देकर कभी-कभी प्रधानशिक्षक होते हैं।”

—कृ. स. १०।१२

५. अविद्वत् संन्यासधर्ममें कृष्णको प्रोतिकर क्यों नहीं होता ? अन्याभिलाषिताशून्य, ज्ञान-कर्मादि आवरणारहित और अनुकूलतासे कृष्णानुशोलनकारी के प्रति श्रीहरिकी केसी कृपा होती है ?

“संन्यास-धर्ममें भी आश्रमोचित कर्म-विशेष है। उसमें मोक्ष-स्पृहा रूपा फल कामना होनेके कारण कृष्ण-प्रीतिकर नहीं होता। संन्यासी भी कर्मनुरूप फल पाते हैं और नितान्त निष्काम होनेपर भी आत्मारामतारूप क्षुद्र फल प्राप्त करते हैं। परन्तु जो शुद्धभक्त है, वे अन्याभिलाषिताशून्य होकर ज्ञान - कर्मादिकी स्वतन्त्र चेष्टाका परित्यागपूर्वक आनुकूल्य भावके साथ निरन्तर कृष्णका अनुशीलन

करते हैं। कृष्ण उन सभी लोगोंके कर्म, कर्मवासना और ग्रन्थियाका संपूर्णरूपसे ध्वंस कर देते हैं।"

—ब्र. सं. ५।५४

६. वरणश्रिमस्थित व्यक्तियोंमें श्रेष्ठ कौन हैं? एकान्तिक विष्णुभक्त वया कर्मकाण्डीय विधि-निषेध स्वीकार करते हैं?

"वरणश्रिमस्थित व्यक्तियोंमें विष्णुभक्तियुक्त व्यक्ति ही श्रेष्ठ हैं। वे पिन्ड-श्राद्ध, देव-पूजा और अपर विविध राजस-तामस, वेद-पुराणोंमें कथित सभी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्म-समूहोंका सर्वतो-भावेन परित्याग करते हैं। इसलिये यदि एकान्त भक्तोंका आचार-व्यवहार शुद्ध और सङ्कर—अनन्यज की तरह भी हो, तथापि वे संसार-बन्धनजनित सभी कर्मोंका परित्याग कर देते हैं।"

स. सा दी वज्ञानवाद

७. वया किसी भी कुलमें उत्पन्न शुद्धवैष्णव पारमार्थिक ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकते हैं?

"जो कोई वर्णके ही क्यों न हों, शुद्धवैष्णव होने से वे पारमार्थिक ब्राह्मणता लाभ करते हैं।"

—जे. ध. ६ वाँ अ.

८. जिस किसी कुलोदभूत वैष्णवका वया वेदाध्यापनामें अधिकार है?

"जिनमें अनन्यभक्ति उदित हो गई है, वे तत्त्व-प्रतिपादक वेदोंके अध्यापक होनेके अधिकारी हैं।"

—जे. ध. ६ वाँ अ.

९. वया कृष्ण-कृपा व्यतीत केवल ज्ञानसे मुक्ति होती है? शुद्धभक्तोंको किस मुक्तिके लिए प्रार्थना करती होती है?

"कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदि उपाय अवलम्बनकर कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञानमार्ग व्यक्ति कृष्णभक्तिके आभासका आश्रय ग्रहण करते हैं। शुद्धभक्तिके अधिकारी मुक्तिकी प्रार्थना नहीं करते। परन्तु मुक्ति अतिशय दीनभावसे उनकी सेवा करनेके लिये प्रवृत्त होती है।"

—श्री. म. शि. द वाँ. प.

१०. पाथिव राजेश्वर्यों और स्वर्ग सुखादि क्या वैष्णवोंके प्रार्थनोंहैं?

"The kingdom of the world, the beauties of the local heavens and the sovereignty over the material world are never the subjects of Vaishnav Prayar".

—The Bhagabat : Its Philosophy, Its Ethics & Its Theology.

"अथर्वि संसारका राज्य, स्वर्गकी सुन्दरताएँ, और भौतिक जगत्के ऊपर एकाधिपत्य आदि विषय वैष्णवोंके कदाचि प्रार्थनीय वस्तु नहीं हैं।"

११. अकिञ्चन आत्मरत व्यक्ति किस प्रकार हरिभजन करते हैं? उनमें किसी प्रकारका विषय-मद रहता है वया?

"अकिञ्चन आत्मरत कृष्णरतिसार ।  
जानि भुक्ति-मुक्ति आशा करे परिहार ॥  
संसारे जीवनयन्त्रा अनायासे करि ।  
नित्यदेहे नित्य सेवे आत्मप्रद हरि ॥

बसुं-मद, बल मद रूप-मद जेत ।

किसज्जन दिया भक्ति पथे हृन रत ॥”

—‘अभिधेय विज्ञान-लक्षण-उपलब्धि’ १, क. क.

“अर्थात् भक्तिच्चन आत्मरत व्यक्ति कृष्णरतिको सार जानकर भुक्ति-मृक्ति आशाका परिहार करते हैं । वे संसारमें जीवन यात्रा सहज रूपसे निर्वाह करते हुए नित्यदेह द्वारा आत्मप्रद हरिकी नित्य सेवा करते हैं । वरणं-मद, बल-मद, रूपमद आदि का सम्पूर्ण रूपसे परित्याग कर भक्ति-पथको ग्रहण करते हैं ।”

१२. सर्वोत्तम साधक कौन है ?

“साधन भक्ति जितने प्रकारकी भी क्यों न हों, उनमेंसे एकमात्र नामाश्रय द्वारा ही सर्वसिद्धि होती है, ऐसा जिनका विवास है, वे ही सर्वोत्तम साधक हैं ।”

—प्रबाधिनी कथा, ह. च.

१३. शुद्धवैष्णवोंका वादानुवाद या प्रेमरहस्य-कलह कक्ष मायिक बुद्धिके द्वारा अधिगम्य है ?

“शुद्धवैष्णव जो कहते हैं, सभी सत्य हैं । उसमें पक्ष-प्रतिपक्ष नहीं है । उनके वाक् कलहमें रहस्य है । जिनकी मायिकी बुद्धि है, वे शुद्धवैष्णवताके अभावमें शुद्धवैष्णवोंके प्रेमरहस्य-कलहको न समझ पक्ष-विपक्षगत दोषका आरोप करते हैं ।”

—ब. स. ४।३१

१४. शुद्धवैष्णव क्या अपने स्वातन्त्र्य-रक्षणमें मत्तन करते हैं ? उन्होंने किस प्रकार शुद्ध-दास्य प्राप्त किया है ?

“श्रीवैष्णवोंको सर्वदा यह स्मरण रखना चाहिये कि वे श्रीगोपीवल्लभ श्रीकृष्णके दासानुदास हैं, स्वाधीन नहीं हैं । स्वाधीनताकी उनमें संभावना नहीं है, क्योंकि तदीयत्वरूप स्वातन्त्र्य धर्म विक्रयके द्वारा उन्होंने कृष्णदास्य प्राप्त किया है ।”

—‘श्रीवैष्णवोंका वरणश्रिम’, म. तो. ११।१०

१५. कृष्णदास्यरूप मधुका पान करनेवाले शुद्ध भक्तक्या त्रिताप-बलेशका अनुभव करते हैं ?

“शुद्ध भक्तजन कृष्ण के कर्य- धारणे ।  
निज निज भजनेते मग्न सुखारणे ॥  
ना जाने अभाव-पीड़ा संपार-यातना ।  
सिद्धकाम शुद्धदेह बेसे सर्वजना ॥”

—न. भा. त. १०२

“अर्थात् शुद्धभक्त कृष्णदास्यरूप अमृतके सागर में अपने-अपने भजनभावसे मग्न हैं । वे अभाव-पीड़ा या संसारके दुःख - बलेशका अनुभव नहीं करते, क्योंकि उन्हें अपने शुद्धदेहकी अनुभूति प्राप्त हो गयी है और वे सिद्धकाम हैं ।”

१६—वैष्णव-ठाकुरका चरित्र कैसा होता है ?  
‘वैष्णव ठाकुर, अप्राकृत सदा, निर्दोष आनन्दमय ।  
कृष्णनामे प्रीत, जड़े उदासीन, जीवेते दयाद्वय ॥  
अभिमान हीन, भजने प्रवीण, विषयेते अनासक्त ।  
अन्तेरे बाहिरे, निष्कपट सदा, नित्यलीला प्रनुरक्त ॥’

“अर्थात् वैष्णव ठाकुर सदा अप्राकृत, निर्दोष और आनन्दमय हैं । वे कृष्णनाममें प्रीतियुक्त, जड़ भोगके प्रति उदासीन और जीवोंके प्रति दयावान

होते हैं। वे अभिमानहीन, भजनमें प्रवीण, और विषयोंमें अनासक्त हैं। वे अन्तर-बाहरमें सर्वक्षण ही निष्कपट हैं एवं भगवानकी नित्यलीलामें अनुरक्त हैं।"

—लालसामयो, प्रार्थना क. क.

१८. किनके आवेदनसे कृष्ण दया करते हैं ?

"वैष्णवेर आवेदने कृष्ण दयामय।

एहेन पामर प्रति हवेन सदय॥"

—देव्यमयी प्रार्थना क. क.

"अथाति वैष्णवोंके आवेदनसे कृष्ण मुझ जैसे अत्यन्त पामर व्यक्ति पर भी कृपा करेंगे।"

१९. शुद्धवैष्णवोंके निकट किस प्रकारकी प्रार्थना करनी चाहिये ?

"कृष्णसे तोमार, कृष्ण दितेपात्र,  
तोमार शक्ति आद्ये ।  
आमि त काङ्गाल कृष्ण कृष्ण बलि  
धाई तव पाद्ये पाद्ये ॥

X                    X                    X

अमानी मानद हड्डे कीत्तने अधिकार दिवे तूमि ।  
तोमार चररो निष्कपटे आमि कादिया लुटिब भूमि॥"

"अथाति कृष्ण आपके हैं इसलिये आप कृष्णको देनेमें समर्थ हैं। मैं कङ्गाल हूँ, और 'कृष्ण कृष्ण' कहकर आपका अनुगमन करता हूँ। अमानी मानद होने पर आप कीत्तनमें अधिकार प्रदान करेंगे और मैं आपके चरणोंमें रोता हुआ निष्कपट रूपसे लोट-पोट करूँगा।"

—जगदगुरु छ. विष्णुपाद जील भक्तिविनोद भाकुर

## श्रीश्रीजीव-गोस्वामी

[ श्रीगोडीय वैष्णव जगतके परमोच्चल नक्षत्र, प्रसिद्ध छः गोस्वामियोंके अन्तर्गत श्रीश्रीजीव-गोस्वामीके पुनीत तिरोभाव-तिथिपूजा- महोत्सवके उपलक्ष्यमें जयपुरके श्रीधीराधा-दामोदर-मन्दिरमें आयोजित एक विराट धर्मसभामें पठित पद—सम्पादक ]

जय जय जय श्रीजीव गुसाई ।

राधादामोदर - अनुरागी, करत चरण सेवकाई ॥

अनुपम-तनय बाल ब्रह्मचारी, अनुपम ग्रन्थ रचाई ॥

भ्रम-सन्देह - अजता - भक्षन, ज्ञान-ज्ञाति फेलाई ॥

रूप - सनातन - भक्ति - धारा, जीव - सरोवर आई ।

श्रीचैतन्यदेव प्रतिपादित "मधुर" प्रेम सरसाई ॥

—श्रोदिवेशवर नाथ गुप्त 'मधुर'

## सन्दर्भ-सार

### ( श्रीकृष्ण-सन्दर्भ-१४ )

श्रीकृष्ण विद्वका अप्राकृतत्व तो प्रमाणित हुआ । परन्तु उनके तनुत्यागको बातकी सङ्खिति कैसे हो ?

**श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—**

यथाहरद्गुच्छो भारं तां तनुं विजदावजः ।  
कण्टकं कण्टके नैव द्वयं चापीशितुः समय ॥  
यथा मत्स्यादिल्पाणि घते जह्नादयथा नटः ।  
भूभारः क्षपनो येन जहो तच्च कनेवरम् ॥

( भा. १।१५।३४-३५ )

अर्थात् किसीके पाँवमें कौटा चुभने पर वह दूसरे कटिके द्वारा चुभे हुए कटिको निकालता है और पीछे दोनों कौटोंको ही फेंक देता है । उसी प्रकार जन्मरहित भगवान् श्रीकृष्णने भी जिस मूर्तिद्वारा पृथिवीके भारस्वरूप स्थित अमुरोंका बधकर पृथिवी का भार हरण किया था, पीछे उन्होंने उस शरीर को भी अप्रकट किया । जिस प्रकार एक ही नट विशेष विशेष-अभिनयके लिए बहुत प्रकारके वेश-भूषाओं को ग्रहण करता है और अभिनयके अन्तमें इस रूपको दूर कर देता है, उसी प्रकार भगवन् भी विशेष - विशेष प्रयोजनसे मत्स्यादि बहुतसे रूपोंको ग्रहण करते हैं और प्रयोजनके पूर्ण होने पर उन सभी रूपोंको गोपन करते हैं । भगवान् श्रीकृष्णने भी जिस कलेवरके द्वारा भू-भार हरण किया था, उसे उन्होंने गोपन किया ।

तनु, रूप और कलेवर---इन सभी शब्दों द्वारा भगवानका 'देह' निर्दिष्ट नहीं हुआ । 'भाव' कहा गया है—भूभार-हरणेच्छा लक्षण और देवता-प्रतिपालनेच्छारूपभाव । तृतीय स्कन्धके २० व अध्यायमें 'तनु' शब्दसे ब्रह्माका भाव कहा गया है । "विससज्जितमनः कायं" अर्थात् ब्रह्माने पाँच प्राचारकी अविद्याकी सृष्टि कर उसे तमोमय देखकर मन प्रसन्न न होनेके कारण वह देह त्याग दिया । उसके पश्चात् अमुरोंकी सृष्टि की । जब अमुरोंने उनपर आक्रमण किया, तब उन्होंने श्रीहरिके उपदेशसे "विमुच्चतात्मतनुं घोरां" अर्थात् अपने काम-कलु-षित तनुका परित्याग किया । तदनन्तर गन्धवं-अप्सराओंकी सृष्टि कर "विसमर्जं तनुं तां" उस तनुको त्याग दिया । उसके पश्चात् कर-चरणादि को प्रसारित कर ब्रह्माने जब देखा कि सृष्टिवृद्धि नहीं हुई, तब उन्होंने "क्रोधादुत्सर्जहं तदवपुः" अर्थात् उस वपुका परित्याग किया । उक्त वलोंको की टीकामें श्रीधरस्वामीपाद कहते हैं—“सर्वत्र तनुत्यागो नाम तत्त्वमनोभावत्यागो विवक्षितः” । अर्थात् सर्वत्र तनुत्याग अर्थमें मनोभावका त्याग है । भगवानके सम्बन्धमें भी यही जानना चाहिये । भार हरणादि कायं स्वयं भगवानके नहीं हैं, पालन-कर्ता विष्णुके कर्म हैं । जब स्वयं भगवान् अवतीर्ण होते हैं, तब युगावतारादिके कर्म भी (भूभार-हरण, देवता-प्रतिपालनादि) उनके द्वारा ही सम्पन्न होते

हैं, ऐसे भावका उनमें आभासमात्र था । इसलिए कौटिका उदाहरण सुसङ्गत है । कण्टक विद्वांग व्यक्तिके लिए विद्व-कण्टक और मोचक-कण्टक दोनों हो समान हैं । भगवानके लिए यह कार्य बैसा ही है । परमात्मसन्दर्भमें ऐसा सिद्धान्त - प्रतिपादन किया गया है—

चिन्मात्रस्वरूप श्रीभगवान् स्वरूप-शक्तिद्वारा श्रीबैकुण्ठादिगत अनन्त ऐश्वर्यादियुक्त हैं । वे प्राकृत गुणरहित होनेके कारण अविकारी हैं । स्वरूपशक्तिकी विलासभूत अनन्त किया सर्वदा नित्यसिद्धरूपसे उनमें वर्तमान है अथवा श्रीभगवान् अनन्तस्वरूपसे स्वरूप - शक्तिद्वारा प्रकाशित अनन्तलीलाओंमें नित्यनिरत हैं । इसलिये लीलाविभवि-कर्ता उनकी अवस्थान्तर-प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये प्राकृत कर्त्तिकी तरह वे विकार प्राप्त नहीं होते । यदि वे स्वरूपसे निविकार हैं, तब उनके सत्त्वादि गुण और गुणशक्ति हेतु स्थित्यादि क्रिया कैसे सम्भव हैं ? चिन्मात्र वस्तु विरोधी गुण और क्रियाएँ सञ्चिदानन्दविग्रह भगवानमें सम्भव नहीं हैं । वे स्वरूपेश्वर्यंपूर्ण होनेके कारण स्वेच्छाक्रमसे भी उन सभीको ग्रहण नहीं करते । केवल लीलावशतः ही गुणातीत भगवान् गुण और क्रिया युक्त होते हैं, उन लोलाओंके द्वारा किस प्रकार गुण क्रियान्वित होते हैं ? उसका उत्तर लोलाका अर्थ है क्रीड़ा । बालक बस्तु निशेष या दसरे बालक द्वारा प्रवत्तित होकर क्रीड़ामें प्रवृत्त होता है । स्वरूप वंभवमें परितृप्त भगवान् अन्य वस्तु द्वारा बैसी लीलामें प्रवृत्त नहीं होते । उनकी आश्रिता गुणमयी माया ही सृष्टि-स्थिति लय

कार्य सम्पादन करती है । उनको चिच्छक्तिद्वारा श्रीबैकुण्ठादि लीला और मायाशक्ति द्वारा सृष्ट्यादि-लीला सम्पन्न होती है । मायाके साथ उनका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, इसलिये भूभार हरणादि कार्यमें उनका आवेदन असम्भव है । मत्स्यादि रूप भी नित्य हैं । इन सभी रूपोंके धारण और त्याग-सम्बन्धमें यह जानना चाहिये कि मत्स्यादि अवतारोंमें पृथिवीके भारस्वरूप “देत्य वधादि विषयक भाव ग्रहण और त्याग” ही मूल तात्पर्य है । “धत्ते जह्याद् यथा नटः”— हष्टान्त स्वरूपसे ‘नट’ श्राव्यरूपकाभिनेता—कथक है । श्राव्य रूपकाभिनेता अपने रूपसे अपने वेशमें रहकर ही पूर्व वृत्तान्तका अभिनय करते हुए गान करनेके लिए नायक-नायिकादि भाव धारण और त्याग करता है । श्रीभगवान् के सम्बन्धमें भी बैसा ही जानना चाहिये । अथवा स्वरूपसे अविकृत रहकर ही वे नाना रूपोंका प्रकटन करते हैं । तृतीय स्कन्धमें यह विशेष भावसे वर्णित है—

प्रदश्यांतस-तपसाववितृप्तदशां नृणाम् ।

आदायान्तरष्टादयस्तु स्वविम्बं लोकलोचनम्॥

(भा. ३।२।११)

श्रीउद्गवने विदुरसे कहा था—भगवान् श्रीकृष्ण ने अबतक अपनी स्वमूर्तिका दर्शन कराकर लोक-लोचन-स्वरूप उस मूर्तिको मानो उनके निकटसे बलपूर्वक ग्रहण कर अन्तर्दर्शन किया है । सभी लोग दोषफाल तक दर्शन कर भी उससे परितृप्त नहीं हो सके । यहाँ लोकलोचन स्वरूप अपनी मूर्तिका प्रदर्शन कराकर उसको लेकर ही अन्तर्दर्शन हुए,

त्याग करके नहीं। श्रीमूलके वचनोंमें भी देखा जाता है—

यदा मुकुन्दो भगवानिमां मढ़ीं जहो स्वतन्त्रा

श्रवणीय-सत्त्वथः।

तदाहरेवाप्रतिशुद्धतेतसामभद्रतुः कलिरन्ववत्तंत॥

(भा० १०५।३६)

जिनको सत्कथाका सभी श्रवण करते हैं, उन्हीं भगवान् मुकुन्दने जब अपने शरीर द्वारा इस पृथिवी का त्याग किया, तब उसी समय अविवेकी व्यक्तियोंके अमंगलके लिए कलिको अनुवृत्ति अर्थात् प्रवेश हुआ।

इस श्लोकमें 'स्वतन्त्रा' शब्दमें तृतीया विभक्ति रहनेके कारण सहायं नहीं है। 'सहायंमें तृतीया' स्वोकार करने पर यह अर्थ निकलता है कि जिस प्रकार से पृथिवीको त्यागा बैसे हो अपने तनुको भी त्यागा। यहाँ 'करणमें तृतीया' जानना चाहिए। ऐसा होने पर तनुद्वारा पृथिवी त्याग ही माना जायगा।

श्रीवसुदेवजीने कहा था—

सूनीगृहे ननु जगाद् भवानजो नो  
संबन्ध इत्यनुयुगं निरवर्गंपुत्तमे ।  
नानातनुगंगनवद्विदध्यजनहार्स  
को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायम् ॥

(भा० १०।८५।२०)

अर्थात् है भगवान् ! सूतिकागृहमें हमें तुमने कहा था कि अज होकर तुम अपने धर्मरक्षार्थ प्रतियुगमें जन्म ग्रहण करते हो। हे उरुगाय ! आप

आकाशको तरह असञ्ज होकर नाना तनु त्याग और ग्रहण करते हो। परमेश्वर ! आपकी विभूतिरूप मायाको कौन जान सकता है ?

श्रीवसुदेवकी उक्ति भगवन्महिम-ज्ञानप्रधान है। वे विशुद्धसत्त्वस्वरूप अपनी मानवलीलाको प्राकृत-मनुष्यचेष्टावत् अनुभान कर भगवानमें पुत्रबुद्धिके प्रति आक्षेप करते हैं। उस प्रसञ्जमें वे भगवदुक्ति जल्पना कर अपना अभिप्राय प्रकाश करते हैं। "यदि मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ, तो फिर पुत्रबुद्धि क्यों करते हो ?" भगवानके ऐसे प्रश्नकी आशंकासे "उस विषयमें आपका वाक्य-गौरव ही प्रमाण है, और दूसरा कोई प्रमाण नहीं है"—इसे व्यक्त करनेके लिये कहा—'आप जन्मरहित होकर भी हमारे पुत्ररूपमें जन्म ग्रहण करते हैं'। यह बात उन्होंने स्वयं सूतिकागृहमें कहा था। श्रीभगवदुक्ति—"मैं अपने तनु-प्रवेश-निर्गम अपेक्षासे ही जन्मग्रहण करता हूँ" है। तनु-प्रवेश-निर्गम चिह्नद्वारा जन्म कहा नहीं जा सकता। क्योंकि मैं परमात्मारूपसे व्यष्टि और समष्टि जोवमें प्रवेश करता हूँ और निर्गत होता हूँ। इसका प्रमाण कठोरनिषद्में है—

तं दुर्देशं गुह्यमनुपविष्टं गुहाद्वितं गह्यरेष्टं पुराणम् ।  
प्रध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हृष्ण-शोको  
जहाति ॥

धीर पुरुष उस दुर्देशं गूढं अनुप्रविष्ट ( सभीके अन्तर्यामी ) गुहास्थित ( सभी प्राणियोंके हृदय-गुहामें विराजित ), गह्यरेष्ट ( मुक्तजीवमें भी अवस्थित ), पुराण ( सर्वपूर्ववर्ती ), देव ( स्वप्रकाश या )

देवताको ध्यानयोग द्वारा अवगत होकर हर्ष-शोक का परित्याग करते हैं।

इसलिए सब भूतोंकी तरह मैंने तुम लोगोंमें भी प्रवेश किया है, इसे ही तुम लोग मेरा जन्म हुआ मानते हो। उसके उत्तरमें बसुदेवजी कह रहे हैं— “तुम आकाशकी भाँति असङ्ग होकर नाना प्रकार तनु ग्रहण करते हो तथा त्याग करते हो।”

यहाँ पर श्रीकृष्णकी स्वयं भगवना और उस रूपकी नित्य स्थिति भी प्रमाणित हुई। पृथ्वीदेवी भी कहती है—

सत्यं शोचं दया क्षातिस्त्यागः मन्तोऽन ग्राजंवम् ।

\* \* \* \*

ते चाये च भगवन् नित्या यथा महागुणः ।  
प्रार्थ्या महत्वमिच्छाद्वन्विष्टित स्म कहिवित्  
(भा० ११६.२७-३०)

—सत्य, शोच, दया, क्षमा इत्यादि गुण जिनमें नित्य वर्तमान हैं, जो कभी भी धोण नहीं होते, आज उन्हीं गुणनिधि श्रीनिवास द्वारा परित्यक्त

लोग पापके कारण कलिकी दृष्टिसे पवित्र हो गये हैं, इसीलिये मैं शोक कर रही हूँ।

इसलिए स्वयं भगवन् श्रीकृष्णके नर-रूपमें स्वाभाविक नित्य सौन्दर्य और ओज-बल आदिकी विद्यमानता प्रसिद्ध है।

श्रीगोपालतापनीमें भी ऐसा वर्णन मिलता है—  
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्  
०को बहुना या विदधाति कामान् ।  
त प छ्यां ये तु यज्ञित धीरा-  
स्तेषां सुखं इवाद्वत्तं नेतरेषाम् ॥

जो नित्य समूहोंमें परम नित्य है, चेतन समूहोंमें जो परम चेतन है तथा जो एक होकर भी अनेकों बी कामनाओंकी पूर्ति करते हैं, पीठ-स्थित उनकी जो धीर व्यक्ति पूजा करते हैं, उनको जैसा अक्षय सुख प्राप्त होता है, वैसा सुख दूसरे बहिमुख लोगों को प्राप्त नहीं होता है।

—प्रिद्विस्वामी श्रीमद्भूक्ति भूदेव श्रीती महाराज

## श्रीमद्रभागवतमें माधुर्यभाव

[ वर्ष १२, संख्या ६, पृष्ठ १६७ से आगे ]

इस प्रकार लोक-लज्जा और धर्म-का भय दिखला कर श्रीकृष्णने जब गोप-रमणियोंको उसी समय द्वारा लौट जानेका उपदेश दिया, तब गोपियाँ दुःखसे विहृल हो गयीं, उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। वे रोते-रोते इस प्रकार

बोल—प्रियतम ! आप तो करुणासागर हैं। आपके प्रेममें हमने माता-पिता, पति, भाई-बन्धु आदि सब का परित्याग कर दिया है। लोक-लज्जाको भी हम भूल गयी हैं। ऐसी स्थितिमें हमारा परित्याग करना क्या आपको शोभा देता है ? ऐसा कठोर तो

हमने आपको कभी नहीं देखा । आपके द्वारा किये गये इस आधातकी पीड़ाका अवलोकन भी आपको छोड़कर दूसरा कीन कर सकता है ?

**पतिसुतान्वयभातृवान्धवा--**

न तिविलंघ्य ते ज्ञत्यच्युतागतः ।

**गतिविदस्तवोद्गीमंहिताः**

कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥

( भा० १०।३।१६ )

प्रियतम ! तुम चतुर शिरोमणि भलीभाँति जानते हो कि हम सब तुम्हारे मधुरतम मुरली गान से मोहित होकर ही अपने पति-मुत्र, बन्धु-वान्धव और कुल-परिजन—सबका परित्याग करके उनकी इच्छाके विपरीत तुम्हारे समीप इस बनमें चली आयी हैं । किर भी तुम हमें छोड़ कर चले गये । औरे कपटी ! इस प्रकारकी घोर रात्रिके समय शरणमें आयी हुईं तरुणियोंको तुम्हारे अतिरिक्त और कीन त्याग सकता है ? प्यारे ! हमें तो प्रतिकाग्य यही व्यथा हो रही है कि—

यत्ते मुजानचरणाम्बुद्धुं स्तनेषु

मीता शनः प्रिय दधोमहि कक्षेषु ।

तेनाटवीमटसि तद व्यथते न किस्तित्

कृपादिभिर्भ्रमति शीर्भवदायुषां नः ॥

( भा० १०।३।१६ )

प्रियतम ! तुम्हीं हमारे जीवन-सर्वस्व हो । कहीं छोट न लग जाय—इस भयसे हम आपके जिन चरण कमलोंको अपने कठोर स्तनों पर धीरे-धीरे धरती हैं, उन्हीं सुकोमचरणोंसे आप बनमें धूम रहे हैं ।

हे प्राणवल्लभ ! लघु-लघु उपल खण्ड आपके अतिमुदुल चरणोंमें चुभकर दुःख पहुँचाते होंगे—यहा चन्ता हमारे चित्तको अति व्याकुल कर रही है । हमारी वारी मूक है । नेत्र निश्चल होकर आपके पंथको निहार रहे हैं । शरीर विथिल हो गया है ।

शुक मुनिने भावावेशमें गोपियोंकी दशाका बर्णन करते हुए महाभाग परीक्षितसे कहा—

**इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलग्नस्यदत्त चित्रधा ।**

**रूढुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥**

( भा० १०।३।२।१ )

हे महाराज ! गोपियां श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे इस प्रकार गाती हुईं ऊँचे स्वरसे विचित्र प्रलाप करने लगीं, जिससे बनके वृक्ष लताएँ निखिल बनस्थित पशु-पक्षी भी उनके स्वर-में-स्वर मिलाकर रोदन करने लगे । श्रीकृष्णके पावन नाम की मधुर गुंजार सर्वत्र गूंज गई । उसने गगन-मण्डन, दिशा-विदिशाओं, भूभाग, पर्वत मालाओं को भी आच्छादित कर नट-खट वज्रकिशोर लीला निकेतनके मानसको भी विचलित कर दिया । अतः वे अधिक समय तक छिपे न रह सके । निष्कलंक पूर्ण सुधाकरके सम अपने मुखारविन्दके मन्द-मुसकानकी शुभ्रज्योत्स्नामें सभीको आप्लावित करते हुए सहसा प्रकट हुए ।

**तासामाविरभून्द्वोऽरः स्मयमानमुखाम्बुजः ।**

**पोताम्बरधर स्त्रीवी साक्षान्मन्मथ मन्मथः ॥**

**तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्पुल्ल दशोऽवलाः ।**

**उत्तस्थु युगपत् सर्वस्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥**

काचित् कराम्बुजं सोरेजगृहेऽखलिना मुदा ।  
काचिद्वधार तद्वाहुमसे चन्दनहसितम् ॥  
( भा० १०।३२।२, ३, ४ )

इसी समय साक्षात्मन्मथके मनको भी मथने वाले नन्दनन्दन अपनी अपूर्व प्रतिभासे संबलित हो आविभूत हुए, जिनके श्याम शरीर पर पीताम्बर और वनमालाकी अपूर्व शोभा थी । उनका मुख-कमल मन्द मुसकानसे महामनोहर दीख पड़ता था ।

प्यारे कृष्णको अपने सामने देखकर गोपियोंके नेत्र-कमल आनन्दके कारण प्रफुल्लित हो उठे । जैसे—प्राणके आजाने पर मृतक शरीर उठ खड़े होते हैं, वैसे ही सब गोपियाँ उठ खड़ी हुईं । भावना के स्रोतमें लहराती अनुराग रागमें रंगी किसी गोपीने आनन्दसे कृष्णका कोमल हाथ अपने हाथों में ले लिया, किसीने चन्दन-चचित भगवान्को भुजा अपने कन्धे पर रखली । किसीने कृष्णका चबाया हुआ पान अपनी अंजलिमें ले लिया । विरहाग्निमें तपी किसी गोपी ने हृदय जीतल करनेकी कामनासे कृष्णका चरण-अपनी छाती पर रख लिया ।

प्रलयंकरी कोपसे विह्वल एक ब्रजाङ्गनाने अपने ओष्ठको चबाते हुए धनुष-सी भीहे तान कर प्रिय पर बासके समान तीखे कुटिल कटाक्ष ढोड़े—

अपरानिपिष्टद्वृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।  
आशीतमरि नालुप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥  
तं काचित् नेत्ररम्बेण हृदिकृत्य निषील्य च ।  
पुलकाङ्गमुपगुह्यास्ते योक्षीकानन्द सम्प्लुता ॥

सर्वस्ताः केष्वासोक्षपरमोत्थव तिहृताः ।  
जहुर्विरहम् तपयं प्रसज्ज प्राप्य यथा जनाः ॥  
( भा० १०।३२।७, ८, ९ )

कोई कामिनी ब्रज-बलभा चौकुने उत्साहसे टकटकी लगाकर कृष्णका मुखकमल निहारने लगी । परन्तु कृष्ण-चरणोंके दर्शनसे साक्षमोंको जैसे कभी तृप्ति नहीं होती, वैसे ही बारम्बार निहारने से भी उसका मन नहीं भरा ।

किसी गोप-वनिता ने नग्नोंके मार्गसे ब्रजेशको हृदयमें ले जाकर युगल नेत्र बन्द कर लिये । उसके शरीरमें रोमाच्च हो आया और वह योगियोंकी भाँति कृष्णका ध्यान करती हुई परमानन्दमें मग्न हो गई ।

जैसे मुमुक्षुजन ईश्वरको पाकर संसारके तापों से छूट जाते हैं, वैसे ही बन्द-नन्दनके दशंनसे परमानन्दको पाकर ब्रजाङ्गनाएँ विरहके तापसे मुक्त हो गईं । उस समय विरह-ताप-रहित आभीर ललनाश्रोंके मध्यमें ब्रजेन्द्र नन्दनकी ऐसी शोभा हुई जैसे परम पुरुष परमात्मा अपनी सत्वादि शक्तियोंसे शोभायमान होता है ।

परात्पर प्रभु मदनमोहन प्राणात्मिक प्रिय गोप-ललनाश्रोंके चिर अभिलिप्ति सुखकी अभिवृद्धि के लिये उन्हें साथ लेकर कलिन्द-नन्दनोंके सुखद मनभावन सुकोमल पुलिन पर पहुँचे और वहाँ उनके साथ बिहार करने लगे । वहाँ धीरे-धीरे कुन्द, मन्दार कुसुमोंकी सुगन्धसे सुगन्धित वायु चल रही थी । सभीरके साथ मत्त मधुपगण इधर-उधर ढोल रहे थे ।

शरद ऋतुके स्वच्छ सुधाकरने आरनो प्रशान्ति  
किरणोंसे निशि के अन्धकारका विसर्जन कर दिया  
था । वहाँ जो भी क्षणभर ठहरता था, उसे आनन्द  
का अनुभव होने लगता था । रवितनयाकी मन-  
मोहिनी तरङ्गोंने रजतके समान शुभ्र सुकोमल  
सिकता विद्धा दी थी ।

तददर्शनाह्नादविघृतहृदरुजो  
मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।  
स्वेदत रीयैः कुच कुंकुमाच्छ्रुते—  
रचीबलूपञ्चासनमात्मबन्धवे ॥  
( भा० ११।३२।१३ )

ऐसे समय हरिदर्शनके परमानन्दसे जिनके हृदय  
की हुःसह ज्वाला मिट गई है, वे गोपियाँ मनोरथ  
के अन्तको पहुँच गई, तब उनको कोई कामना नहीं  
रही । जैसे श्रुतियाँ कर्म-काण्डके विधानोंमें परमे-  
इवरको न देखकर कर्मोंका अनुगमन करती हुई  
पहले अपूर्णकामा-सी रहती हैं । फिर ज्ञान-काण्डमें  
परमेइवरको प्राप्तकर परमानन्दसे पूर्णकामा होकर  
कामनाओंके अनुबन्धको छोड़ देती हैं । वैसे ही  
श्रीकृष्णके दर्शनसे गोपियोंके मानसमें कोई कामना  
नहीं रही । उन्होंने बन्धु-अन्तर्यामी श्रीकृष्णके बैठने  
के लिये अपने-अपने दुपट्टोंसे एक मनोरम आसन  
बना कर विद्धा दिया ।

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो  
योगेऽवरान्तहृदि कल्पितासनः ।  
चकास गोपीपरिषदगतोऽचित-  
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुदंष्ट् ॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदोपनं  
सहासनीलेक्षणविभूषयभूवा ।  
संस्पर्शनेनाच्छ्रुतांघ्रिहस्तयोः  
संस्तुत्य इषत् कुपिता बभाषिरे ।  
( भा० १०।३२।१४, १५ )

योगीश्वरोंके हृदयमें जिन परम पुरुषका आसन  
रहता है, वही परात्पर प्रभु श्रीकृष्ण आज ब्रज-  
रमणियोंकी सभामें उनकी रुचिसे रखे हुए आसन  
पर विराजमान हुए । उस समय ऐसा प्रतीत होने  
लगा मानो त्रिलोकीमें जितनी शोभा है, वह सब  
कृष्णके इयाम शरीरमें अवस्थित होकर अपनेको  
शोभायमान कर रही हो ।

मानिनी नारियोंने मन्द-मुसकानसे युक्त मनोहर  
लीला विलासमय कटाक्षोंसे परिपूर्ण बङ्गुम भौहों  
से कुछ कोप प्रकट करती हुई कोङ्गमें धरे हुए कामो-  
हीपक प्रियतमके सुकोमल कर और पादपद्मोंको  
धीरे-धीरे सहलाती हुई सम्मान पूर्वक भगवन्  
श्रीकृष्णसे कहा—

भजतोऽनुभजन्त्येक एतद् विपर्ययम् ।  
नोभयांश्च भजन्त्येक एतत्रोऽहुं हि साधु भोः ॥  
( भा० १०।३२।१६ )

हे नयनानन्दकर श्रीकृष्ण ! कुछ लोग तो प्रेम  
करनेवालोंसे ही वदलेमें प्रेम करते हैं, कुछ लोग  
इसके विपरीत प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं  
और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वाले  
तथा प्रेम न करनेवाले दोनोंसे ही प्रेम नहीं करते ।  
प्रियतम् ! इन तीनोंके विषयमें हमें समझाकर बत-

लाओ। यह बतलाओ कि तुम इनमेंसे किसको अच्छा समझते हो और तुम कौन-से हो।

इस प्रकारकी रहस्यमयी बातोंको सुनकर भगवान् ब्रजेन्द्र कहने लगे।

मिथो भजन्ति ये सरुपः स्वार्थकान्तोदामा हि ते ।

न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थर्थं तद्वि नाम्यथा ॥

भजन्त्यभजतो ये वै करणाः पितरो यथा ।

धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥

भजतोऽपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः ।

आत्मारामा ह्यापकामा अकृतज्ञा गुरुद्वृहः ॥

नाहं तु सर्वो भजतोऽपि जन्मत्वा

भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।

यथाधनो लब्धधने विनष्टे

तच्चन्तयान्यश्चिभूतो न वेद ॥

एवं मदर्थोऽिभूतलोकवेद-

स्वानां हि वो पर्यनुवृत्तयेऽवलाः ।

मया परोक्षं भजता तिरोहितं

मासूयितुं मार्हण्य तत्प्रयंप्रिपाः ॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां

स्वसाधुकृत्यं विवृषाणुषापि वः ।

या माभजन् दुर्जरोहशृङ्खलाः

संवृश्यतद्दः प्रतियातु साधुना ॥

( भा० १०।३२।१७ मे २२ )

सखियों ! यह तुम्हारा कथन ठीक ही है। जो केवल मात्र अपना प्रयोजन सिद्ध करना ही अभीष्ट रखते हैं, वे ही भजनेकी अपेक्षा करते हैं अर्थात्

भजने वालोंको भजते हैं। किन्तु यह मित्रता सच्ची नहीं है; क्योंकि इसमें धर्म नहीं, स्वार्थ है। बिना स्वार्थके ऐसी मित्रता नहीं होती है।

हे सुन्दरियों ! किन्तु जो न भजनेवालोंको भी भजते हैं वे पिता-माताके समान दो भाँतिके हैं—एक दयावान् और दूसरे स्नेहशील। इसमें दयालु पुरुषोंको शुद्ध कर्म और स्नेहशील पुरुषोंको सौहृद सुख प्राप्त होता है।

जो लोग भजनेवालोंको ही नहीं भजते, तब न भजने वालोंकी कौन कहे। इनमेंसे एक आत्माराम होते हैं, जिनको परमहंस कहते हैं। दूसरे आपकाम होते हैं अर्थात् पूर्णकाम होनेके कारण उनको विषय देखकर भी भोग करनेकी इच्छा नहीं होती। तीसरे कृतधन अर्थात् उपकारको न माननेवाले और चीजे गुरु द्वारा ही होते हैं।

किन्तु हे ललनाथों ! मैं यद्यपि भजनेवालोंको भी नहीं भजता, तथापि इन चारों प्रकारके व्यक्तियों में मेरी गणना नहीं है। मैं परम दयालु महान् सुहृद हूँ। मैं उनको इसलिये नहीं भजता कि वे निरन्तर सब समय मेरा ही स्मरण ध्यान किया करें। देखो ! जैसे कोई निर्धन पुरुष धन पाकर उसे गंवा दे तो उसका मन सब समय उसी धनमें लगा रहता है। वैसे ही हे बालाओं ! तुमने भी मेरे लिये धर्मका भी ध्यान न करके सब वन्धु-बान्धवोंको छोड़कर मेरा भजन किया। तुम्हारा ध्यान मेरी ओर अटल हो जाय, इसलिये मैं छिप गया था। सच पूछो तो छिपे-छिपे मैं तुम सबको भज रहा था। तुम्हारी कोई भी दशा मेरेसे छिपी नहीं थी। ब्रजललनाथों !

मैं तो तुम्हारे पास ही था । इसनिये शिवनमाणों !  
तुम मुझपर अथवा आपने श्रिय पर कोष न करो ।

तुमने लोक एवं गृहकी सुदृढ़ शृङ्खलाएँ तोड़ा  
आमी और मुझसे आकर मिलीं, यह तुम्हारा मिलन  
सर्वथा मिर्देष और बड़ा ही आनन्द पूर्ण है । मैं  
देवताओंकी आयुमें भी तुम्हारे इस साधु-कृत्यका  
बदला नहीं चुका सकता । तुम्हारा बड़ेसे बड़ा  
प्रत्युपकार करके भी मैं तुमसे उच्छण नहीं हो  
सकता । मैं यहीं आशा करता हूँ कि तुम अपनी  
मुश्शीलता उदारतासे ही मुझे ज्ञानसे मुक्त करोगी ।

श्रीकृष्णके ऐसे मधुर मनोहर प्रेम भरे बचनों  
से कोमल सरस चित्तवाली गोपियोंका प्रणय कोप  
शान्त हो गया । हरि अङ्ग-सङ्गसे गोपियोंकी मनो-  
भिलासा पूरी हुई और उनका विरह ताप मिट  
गया ।

तब गोविन्दने रासकीड़ाका आरम्भ किया ।  
यहाँसे भगवान्‌की रहस्यमयी लोकोत्तर रासलीला  
का प्रारम्भ होता है, जो मनुष्य बुद्धिसे अगोचर  
है । इसके रहस्यको इन्द्र, चन्द्र, ब्रह्मादि देवगण भी  
हृदयंगम नहीं कर सके । परम वैष्णव भगवान्  
शंकरने भी इस लीलाके रहस्यको न समझ स्वयं  
गोपी भाव स्वीकार किया । इस रसका आस्वादन  
वे भावुक वैष्णव जन ही कर सकते हैं, जिनको  
परम गुरुकी कृपा और रासरसेश्वर कोटि मन्मथ  
लावण्य श्रीकृष्ण और गोपियोंका परम प्रसाद  
प्राप्त है ।

प्रसाङ्गोपान्त यहीं रासके लक्षण पर भी विचार

करना उचित प्रतीत होता है । सर्वज्ञकिमान वरि-  
पूर्ण परतत्वकी पराल्पा शक्तिके साथ भगवादि शिद्ध  
रिरंसाकी जो उत्कण्ठा है और उस उत्कण्ठाके साथ  
जो चिद्विलास है उसीको रास कहते हैं । इस रास  
लीलामें आपूर्व नृत्य गीत, आलिङ्गनादि भावोंका  
प्रदर्शन होता है ।

श्रीधर स्वामीने इसीको परिपूष्ट करनेके लिये  
लिखा है—

‘रासो नाम बहु नर्तकोयुक्तो नृत्य विशेषः ।’

बहु नर्तकियोंके नृत्य विशेषका नाम रास है ।  
परम भागवत श्रीजीव योस्वरमीजीने लिखा है ।

नटं गुहीतकष्ठोनां श्रम्योऽस्यात्तकर श्रियाम् ।

नर्तकीनां भवेद्रासो मङ्गलीभूय नर्तनम् ॥

नट और नर्तकियाँ परस्पर कण्ठमें हस्त धर  
कर मण्डलाकारसे जो नृत्य करते हैं उसको रास  
कहते हैं । एक ही भगवान् श्रीकृष्णने प्रकाश मूर्ति  
से अनेक होकर ज्ञातकोटि गोपियोंके साथ रास  
किया । उसका विस्तृत वर्णन आप आगे पढ़ेंगे ।

इस रास लीलामें दो रहस्य हैं—अन्तरङ्ग और  
वहिरङ्ग । प्रथम रहस्यका अभिप्राय आनन्द रसका  
आस्वादन करना है और दूसरेका अभिप्राय काम  
को पराजित करना है । विश्व-ब्रह्माण्डमें परातपर  
लावण्य स्वरूप श्रीकृष्णके अतिरिक्त किसीने भी  
कामको पराजित नहीं किया । इन्द्र समग्र देवोंके  
अधिपति होकर भी कामपर विजय प्राप्त न कर  
सके; न अन्य देव समूह ही इसको जीत सके । महा-  
देवजी भी कामकी बीड़ासे उसेजित होकर मरन-

दहन तो कर सके, पर काम पर विजय नहीं कर सके। काम-विजयी एक मात्र श्रीकृष्ण ही हुए। श्रीकृष्णका अतुलित प्रभाव इसीसे प्रकट होता है कि असंख्य व्रज-युवतियोंके समक्ष मनसिंजको अपनो सम्पूर्ण शक्ति प्रयोग करनेकी आज्ञा देती, परन्तु कामदेवमें मोहनको मोहित करनेकी शक्ति ही उत्पन्न नहीं हुई। वरं श्रीकृष्णके लोकातीत सौन्दर्य पर स्वयं ही मोहित हो गया। इसीसे श्रीकृष्णका नाम मदनमोहन न्यवहृत हुआ। अतः पूर्ण पुरुषोत्तम व्रजराजकी रासलीलाके दर्शन करने और श्रवण करनेका वही अधिकारी है, जो कामाशक्ति से परे हैं।

यह रासलीला परमाह्लादिनी शक्तिकी महाभाव स्वरूपा राधा शक्तिके साथ-चित् शक्ति, वहि-रङ्गा शक्ति और जीव शक्तिके नियमक श्रीकृष्ण का अनादि सिद्ध स्वाभाविक विलास है।

इसमें भगवान् श्रीकृष्ण नायक हैं और परम रासेश्वरी श्रीवृषभानुनिद्वनी नायिका हैं। अन्यान्य गोपियोंकी तीन श्रेणियाँ हैं—नित्यप्रिया, देवी और साधन-परा। नित्यसिद्धा गोपिया श्रीकृष्णकी साक्षात् प्रकाश स्वरूपा हैं।

श्रीकृष्ण जब अंशरूपमें देवयानिमें अवतरण करते हैं, तब उनके प्रीति-उत्पादनके लिये नित्य कान्ताएँ अंशरूपसे देवीके रूपमें प्रकट होती हैं। वे ही व्रजमें श्रीकृष्णाबतारमें गोपकन्याके रूपमें अवतरित होकर नित्यप्रियाओंको प्रियसखियाँ होती हैं।

इनके अतिरिक्त श्रुतिरूपा, ऋषि-कन्या, ब्रह्मविद्या आदि साधनपरा गोपियोंकी संख्या भी अंगरित है। उपरोक्त गोपियोंमें युथेश्वरियोंको अनेक बूँदें और किंशोरीजीकी सेविकाएँ भी हैं।

इन तीन प्रकारकी गोपरमणियोंमें जेव साधन-परा गोपियाँ भी पूर्व-पूर्वमें अनेकों कल्पोतके सर्व प्रकारके लोकिक कामके गंधसे रहित होकर साधन करके गोपकन्याके रूपमें अवतरित हुई हैं और इनमें हो जब कामका गंध होना असम्भव है, तब इनसे श्रेष्ठ और गोपियोंकी बोत ही श्रेष्ठ है अर्थात् उनमें कामका होना कैसे सम्भव है।

देखिये, इस सम्बन्धमें पद्मपुराणमें भगवान् श्रीब्यासदेवने लिखा है—

पुरामहर्षयं सर्वं दण्डकारण्यवासिनः ।

दद्वारामं हरितत्रभौक्तुमेच्छन् सुविश्रहम् ॥

ते सर्वेष्ठोऽवमापन्ना समुद्भूताश्वगाकुले ।

दण्डकारण्य वासी महर्षिगण श्रीरामचन्द्रजीके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये, उनके साथ आत्मरमणकी इच्छा प्रकट की। वे महर्षि व्रजमें गोपीरूपसे प्रकट हुए तथा—

गोप्यस्तु अत्यो ज्ञेया ऋषिवागोपकन्यका ।

देवकन्याश्च राजेन्द न मानुष्यः कथञ्चन ॥

इसलिये व्रजमें कामके भोवका लेश भी नहीं है। यह रासलीला प्रेमराज्यकी वस्तु है। प्राकृत हृषिके जन श्रीकृष्णका व्रजगोपियोंके साथ जो ओलिङ्गनादि व्यवहार हैं उसमें कामं क्रीड़ाका भ्रम करते हैं, किन्तु भगवान्की यह क्रीड़ा विशुद्ध प्रेममयी।

इसके लिये श्रीधरस्त्रामी महाराज कहते हैं—  
“शृङ्गार रस कथोपदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेण  
पंचाध्यायो।”

श्रीषाद सनातन गोस्वामीजीने वर्णन किया है—  
“ह्लादिनीशक्ति विलाम लक्षण परम प्रेम मध्ये-  
वैषा रिरंसा न तु काममयीति ।”

रासलीलाकी रिरंसा ह्लादिनो शक्तिका अनादि  
विलास है।

इसीसे निवृत्तिमार्गके परम सिद्ध शुक मुनिने  
मुमुक्षु एवं परम धार्मिक राजा परीक्षितको श्री  
मदभागवतसे परम मुक्तिके लिये ही यह प्रसङ्ग  
सुनाया है।

इस लीलामें आध्यात्मिकताके दर्शन भी होते हैं  
जिसमें भक्त जोवोंको परमात्माके साथ आनन्दा-  
तिरेकमें नृत्य करनेका अवसर मिलता है, यह जीव-  
ब्रह्मकी प्रेममयी एकताकी लीला है जो अनादिकाल  
से चल रही है।

योगकी हृषिमें भी रासका रहस्य समझा जा  
सकता है। जो इस प्रकारसे है—अनाहृत नाद ही  
भगवान् श्रीकृष्णकी वंशी ध्वनि है, शरीरस्थ अनेक  
नाड़ियाँ गोपियाँ हैं। कुल - कुण्डलिनी शक्ति ही  
श्रीराधा है। मस्तिष्कका सहस्रदल कमल ही एक  
सुरम्य वृन्दावन है। जहाँ आत्मा परमात्माका सुख-  
मय सम्मिलन होता है। यहाँ पहुँचकर ईश्वरोय  
विभूतिके साथ जोवात्माकी सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य  
रास रचती हुई नृत्य करती रहती हैं।

भावुक वैष्णवगण रासलीलाके महत्वके सम्बन्ध

में बहुत कुछ बातें जान चुके हैं। अब आपको गोपी  
भाव भावित होकर अपने हृदयको निष्कलंक परि-  
शुद्धकर रासलीलाका रसास्वादन करना है।

गोविन्द रासके लिये खड़े हो गये। उस समय प्रियतम  
की आज्ञाको माननेवाली श्रेष्ठ व्रजरमणियाँ प्रसन्नता  
पूर्वक हाथसे हाथ मिलाये मण्डल बांधकर खड़ी  
होगईं। उस गोपीमण्डलमें योगेश्वर कृष्णकी बड़ी  
ही शोभा हुई; क्योंकि उस समय दो-दो गोपियोंके  
बीच एक-एक कृष्णकी मूर्ति थी। इस प्रकार गल-  
बाही डालकर कृष्णचन्द्रने रासोत्सव प्रारम्भ  
किया। हरिकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे हर एक  
गोपी यही जानती थी कि मेरे ही पास प्यारे  
कृष्ण हैं।

इतनेमें ही रास क्रोड़ाका अवलोकन करनेके  
लिये जिनके मन अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे थे, वे  
देवगण अपनी-अपनी झियों सहित विमानमें बैठकर  
आकाशमें आ पहुँचे। योड़े समयमें ही नभ-मण्डल  
देवोंके विमानोंसे आच्छादित होगया और वे नगाड़े  
बजाकर फूलोंकी वर्षा करने लगे। गन्धर्व अपनी  
नारियों सहित श्रीकृष्णचन्द्रका निर्मल यश गाने  
लगे। सभीके हृदयमें परम आल्हाद छा गया। वे  
आत्मविस्मृत होकर अनिवंचनीय भावदशाको  
प्राप्त हो गये।

वलयानां तूर्याणां किञ्चित्पुणीनान्नयो विताम् ।  
सप्रिपाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥  
तत्राति शुश्रूमे ताभिभंगवान् देवकीसुतः ।  
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥  
पादन्यासै भुञ्जिविषुतिभः सस्मतैर्भूविलासै-  
भंज्यन्मध्यैचलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन् मुख्यः कवररशनायं थयः कृष्णवृद्धबो  
गापन्त्यप्तं तदित इवता मेषचके विरेजुः ॥  
उच्चेऽग्नूत्यमाना रक्तं कण्ठयो रतिप्रियाः ।  
कृष्णभिमश्चमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥  
भा, १०।३३।६-६ मे

रास-मण्डलमें अपने प्रियके साथ नृत्यमें निरत नारियोंके बलय, नूपुर और किंकिणियोंका तुमुल शब्द होने लगा । जैसे स्वरणं वर्णकी मणियोंके बीच तीलमणिको शोभा होती है, वैसे ही भगवान् श्याम सुन्दरकी उन गोपियोंके बीचमें अत्यन्त शोभा हुई ।

नाचनेके समय गोपियोंके विचित्र चरण-विन्यास दर्शनोय थे । वे भाँति-भाँतिसे अपने कर्णों को हिलाडुला कर भाव प्रदर्शन कर रही थीं । उनकी सुकुमार कटि नृत्यके समय कोमलताके कारण लचक-लचक जाती थी । जब वे मुसकुराती हुई अपनी भोंहे टेढ़ो कर नचाती थीं, तब बड़ी भली मालूम होती थीं । उनके बल, दुपट्टे मृदुल समीरसे उड़-उड़ जाते थे । जिससे कमनीय उन्नत कुच खुल पड़ते थे । हिलरहे कुण्डलोंकी झलक कपोलों पर पड़नेसे बहुत सुहावनी लगती थीं । नृत्यके अपने उनके सुन्दर मुखारविन्दों पर पसीने की बूँदें निकलने लगी थीं । वेरणी और नीबीकी गाँठें शिथिल पड़ गई थीं । इस प्रकार मदनमोहन नट नागर श्रीकृष्णके साथ नृत्य करती और गान करती हुई व्रज - वालाएँ मेष-मण्डलमें मेषोंके साथ जैसे विजलियाँ शोभित होती हैं, उसी प्रकार शोभित हुई । कृष्णके अङ्गसङ्गसे परमानन्दको प्राप्त गोपियाँ हुईं ।

ऊँचेस्वरसे भाँति - भाँतिके रागोंका आलाप भरती हुई गाने लगीं । उनके गानकी ध्वनिसे समूर्ख विश्व गौंज उठा । कोई गोपी मुकुन्दके साथ गारही थी, उसने श्रीकृष्ण जिस स्वरमें गा रहे थे, उससे भी ऊँचे स्वरमें रागका आलापना प्रारम्भ किया । तब श्रीकृष्णचन्द्रने प्रसन्न होकर उसकी अति-अधिक प्रशंसा की । इसी प्रकार गानेवाली दूसरी गोपियों को भी मनमोहनने प्रशंसा की ।

रासनृत्यमें थकी व्रजबालाओंके कङ्गण और बेरणीमें गुंथे हुए मलिलका कुसुम शिथिल होकर गिरने लगे ।

एक ललना श्रीकृष्णके स्कन्धपर हस्त रखकर विश्राम करने लगी ।

एक गोपी अपने कन्धे पर धरे चन्दन चचित कमल सुगन्धसे सुवासित कृष्णकी भुजाको प्रेमपूर्वक सूँघने, चूमने लगी । आनन्दकी अधिकतासे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो गया ।

एक गोपीने नृत्यसे हिल रहे कुण्डलकी झलकसे सुशोभित अपने कोमल कपोलको कृष्णके कपोलसे मिलाया; उसी समय श्रीकृष्णने उसके मुखमें पान की अपनी चबायी बीड़ी देदी ।

एक गोपी नृत्य करते-करते जब श्रमित होगई तो समीपमें स्थित श्रीकृष्णके कर-कमलको अपने हृदय तापकी शान्तिके लिये हृदय पर धारण कर भाव-मुग्ध होगई ।

इस प्रकार गोपियाँ अपने एकान्त बल्लभको पाकर विविध प्रकरसे विहार करने लगीं ।

उस सुमय सुवाससे मत्त भ्रमर गायकोंका कार्य कर रहे थे । अन्यान्य वाद्योंके साथ गोपियोंके बलय, नृपुर, किंचुणी वाद्योंका कार्य कर रही थी ।

गोपियोंके श्वेत स्थित कमल, कुसुम कपोलों

पर विखरी हुई घलकावली प्रस्त्रेद विन्दुओंसे अलंकृत-कपोल, केशोंमें श्वित मिरस्ती हुई पुष्पमालाएँ बड़ा ही भनोरम लग रही थी ।

(क्रमशः)

—बागरोदी हुणचन्द शास्त्री, साहित्यरत्न

## वैष्णव-सून्दरा

[ श्रीशीतरोत्तम ठाकुर ]

ए बार करुण करो वैष्णव गुसाई ।  
पतित - पावन तुम विना कोउ नाहीं ॥  
कौन के निष्ट गये पाप दूर जाय ।  
ऐसो जो दयामु प्रधु कैसे कहाँ पाय ॥  
गंगा के विकट गये होयगो पावन ।  
दर्शन पवित्र करै येहु आयु गुन ॥  
हरि - स्थानी अपराध तरे हरि - नाम ।  
वैष्णवप्रराप नहों कोउ ठौर ठाम ॥  
तुम्हारे हृदय सदा मोविन्द - निवास ।  
मोविन्द कहत “मेरे वैष्णव - उसास” ॥  
श्रति जन्म बहु आशा तव पद घूली ।  
नरोत्तम कहे दया अपनाय बोलै ॥

अनुवादक—श्रीप्रियाशरण वास